2 | आदिकाल : परिप्रेक्ष्य और प्रवृत्तियां

हिंदी-साहित्य के ग्यारहवीं सदी से चौदहवीं सदी तक के समय को 'आदिकाल' या 'वीर-गाथा-काल' कहा जाता है। सर्वप्रथम शुक्ल जी ने इसे वीरगाथा-काल कहा। किंतु राहुल सांकृत्यायन ने आदिकाल का नाम 'सिद्ध-सामंत-युग' दिया है तथा इसका प्रारंभ आठवीं शती से माना है। उनके द्वारा संपादित 'काव्यधारा' शीर्षक ग्रंथ में आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक के जैन, सिद्ध और चारण कवियों की रचनाओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है। उन्होंने इस काल की अंतिम सीमा 1343 ई० तक मानी है। डॉक्टर रामकुमार वर्मा ने इसे 'चारणकाल' का नाम देकर, इसका समय सन् 943 ई० से 1343 ई० तक माना है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उपर्युक्त सभी नामों की अपेक्षा इसे 'आदिकाल' कहना ही उपयुक्त माना है। उन्होंने इसकी सीमा सन् 1000 ई० से 1400 ई० तक स्वीकार की है। किंतु आदिकाल का सबसे अधिक प्रचलित नाम आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा दिया गया 'वीरगाथा-काल' है। उनके विचार से इस काल में प्राप्त होने वाले काव्य-ग्रंथों में वीरगाथाओं का गान करने की प्रवृत्ति की प्रमुखता रही है। किंतु नवीनतम खोजों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि इस काल में केवल वीरगाथा की ही प्रवृत्ति नहीं रही थी अपितु अपभ्रंश में रचित उस प्रचुर साहित्य की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती जिसके अंतर्गत सिद्ध एवं जैन-साहित्य सम्मिलित है। अतः आजकल इसे 'आदिकाल' के नाम से ही जाना जाता है।

आदिकाल में दो प्रकार की रचनाएं मिलती हैं—अपभ्रंश की और देशभाषा (बोल-चाल) की। अपभ्रंश उस समय की बोलचाल की भाषा तो न थी, परंतु साहित्यिक परंपरा की भाषा अवश्य थी जिसका प्रयोग कवि लोग अपनी रचनाओं में कर रहे थे। उस काल की देशभाषा के नमूने खुसरो तथा विद्यापति की रचनाओं में प्राप्त होते हैं। विद्यापति ने अवहट्ठ तथा मिथिला प्रदेश की प्रचलित भाषा मैथिली—दोनों को ही अपनाया। उनकी कीर्तिलता अवहट्ठ भाषा में है। इस प्रकार आदिकाल के हिंदी-काव्य के हमें दो रूप मिलते हैं—अपभ्रंश-काव्य तथा देशभाषा-काव्य।

अपभ्रंश भाषा की पउमचरिउ, तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार, णयकुमार चरिउ, करकंड चरिउ, भविसयत कहा, संदेशरासक आदि अनेक साहित्यिक पुस्तकें प्राप्त होती हैं। देश-भाषा के आठ काव्य प्रसिद्ध हैं—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, विजयपाल रासो,

हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचंद्रप्रकाश, जयमयंक-जस-चंद्रिका, परमाल रासो (आल्हा का मूल रूप), खुसरो की रचनाएं तथा विद्यापति की पदावली।

आदिकाल अथवा वीरगाथा-काल में रचित साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियां इस प्रकार हैं :

वीरों की गाथाएं : इस काल में वीरगाथात्मक रचनाएं प्रचुर मात्रा में की गयीं। इस काल के अनेक रचयिता राजाओं के आश्रय में रहते थे। अपने-अपने आश्रयदाता राजाओं के शौर्य की प्रशंसा बढ़ा-चढ़ाकर करना उनकी एक प्रमुख विशेषता थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल की जनता भी ऐसी कहानियां कहने और सुनने में अधिक रस लेती थी। तत्कालीन राजाओं में शौर्य का अभाव भी नहीं था इसलिए उनकी वीरता को काव्य का विषय बनाना स्वाभाविक था। पृथ्वीराज रासो में चंदबरदाई ने पृथ्वीराज की वीरता और शौर्य का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। खुमान रासो, परमाल रासो, बीसलदेव रासो आदि में भी इस तरह के वर्णन मिलते हैं। परमाल रासो जिसका विकसित रूप आल्हा है, आज भी गांवों में बड़े उत्साह के साथ गाया-सुना जाता है। इस काव्य में आल्हा और ऊदल की वीरता के कारनामे भरे हुए हैं।

वीर रस की प्रधानता : इस काल की अधिकांश रचनाओं में वीर रस की अभिव्यक्ति हुई है। वीरों के साहस, शौर्य, उत्साह, धैर्य आदि के वर्णन ऐसी ओजस्वी भाषा में हुई है, जो सहज ही वीर रस की अनुभूति कराते हैं। उदाहरण के लिए 'पृथ्वीराज रासो' की निम्नलिखित पंक्तियां देखिए :

छुटी आंखि पट्टी मनो उग्गि सूरं।
गिरे काइर सूर बद्धे सनूरं॥
लियं हत्व करबार भंजे कपारं।
लियं जोगिनी पत्र कीयें डकारं॥

अर्थात्—पृथ्वीराज के मंत्री कन्ह चौहान की आंखों पर बंधी पट्टी जब युद्धक्षेत्र में खुली, तब ऐसा लगा, मानो सूर्य उदय हो गया हो। उनकी वीरता के आतंक से कायर गिर पड़े और कन्ह के साथी शूरवीर सैनिक ओज से भर उठे। वे अपने हाथ में तलवार लेकर शत्रुओं के सिर काटने लगे। मारे गये सैनिकों के रक्त से खप्पर भर-भरकर योगिनी पीने लगीं और तृप्ति-सूचक डकार लेने लगीं।

अनेकानेक युद्धों के कारण वीरों के लिए युद्धक्षेत्र में उत्साह दिखाने के अवसर आते ही रहते थे। कवियों ने जहां-जहां उनके उत्साह का चित्रण किया है वहां वीर रस प्रकट हो गया है। इस काल में वीर रस का इतना सुंदर परिपाक हुआ कि बाद के साहित्य में इसका इतना पुष्ट रूप मिलना दुर्लभ है।

युद्धों का सजीव वर्णन : आदिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति यह दृष्टिगत होती है कि इस काल में युद्धों का वर्णन बहुत अधिक हुआ है। ये वर्णन इतने सजीव हैं कि आंखों के सामने युद्ध का चित्र उपस्थित हो जाता है। घोड़ों का दौड़ना, शस्त्रों का चलना, युद्ध के बाजों का बजाना सभी कुछ कवियों की वाणी से मुखरित होता हुआ प्रतीत होता है। युद्ध के ऐसे चित्र साहित्य के इतिहास में अन्यत्र प्राप्त नहीं होते। इसका कारण यह है कि इस काल के कवि न केवल युद्ध के प्रत्यक्षदर्शी होते थे, वरन वे युद्धों में स्वयं हिस्सा भी लेते

थे। युद्ध करने का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :

वज्जिय घोर निशान रान चौहान चहाँ दिस।
सकल सूर सामंत सबरि बल जन्त-मन्त्र तिस॥
उट्ठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कड़त तेग मन वेग लखत मनो बीजु भट्ट घट।

यहां पर द्वित्य वर्ण-प्रधान भाषा और छंद की योजना ऐसी हुई है जो युद्ध-वर्णन को बहुत स्वाभाविक बना देने वाली है। युद्ध-वर्णन के अनेक प्रसंग इस काल की रचनाओं में मिलते हैं।

शृंगार रस वर्णन : आदिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति है—वीर रस के साथ शृंगार रस का संयोग। इन रचनाओं में वीर रस के वर्णन तो हैं ही, उनके साथ शृंगार रस की अभिव्यंजना भी स्थान-स्थान पर मिलती है। इस काल में युद्धों का कारण प्रायः कोई सुंदर स्त्री हुआ करती थी। ऐसा होता था कि राजा किसी दूत के मुख से किसी स्त्री के सौंदर्य की प्रशंसा; उनके अंग-प्रत्यंग की शोभा का वर्णन सुनता था। वह वर्णन शृंगारिक होता था। स्त्री की प्राप्ति न होने पर राजा उसके विरह में दग्ध रहता था। युद्ध में जीती हुई महिलाओं के साथ राजाओं के भोग-विलास के चित्र भी इन काव्यों में खींचे गये हैं। ये सभी प्रसंग शृंगार रस के हैं और ऐसे प्रसंग वीरगाथा काव्य में बहुत मिलते हैं। इन वर्णनों में अनेक स्थल ऐसे हैं जहां वीर रस और शृंगार रस बड़ी कुशलता के साथ मिले हुए पाये जाते हैं। वीरता और शृंगारिकता का ऐसा अद्भुत मेल इस काल की उल्लेखनीय विशेषता है।

प्रकृति-चित्रण : इस काल में प्रकृति का आलंबन एवं उद्दीपन दोनों ही रूपों में चित्रण हुआ है। युद्ध-क्षेत्र में जाते हुए सैनिकों का वर्णन करते समय रास्ते में पड़ने वाले नगर, नदी, पर्वत आदि का वर्णन कवियों ने जमकर किया है। रात के उपस्थित होने, सुबह होने आदि का प्राकृतिक चित्रण भी कवियों ने किया है। प्रकृति का चित्रण विशेषकर उद्दीपन रूप में ही हो पाया है। प्रकृति के स्वतंत्र या आलंबन रूप के चित्रण में कवियों ने अधिक रुचि नहीं दिखायी है। प्रकृति-चित्रण के नाम पर वस्तुओं की गणना ही अधिक मिलती है।

आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा तथा राष्ट्रीयता का अभाव : इस काल के कवियों की वाणी अपने-अपने आश्रयदाताओं के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में ही लगी रही। उन लोगों ने देश की स्थिति एवं भविष्य की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया, जिसके कारण उनके काव्य में राष्ट्रीयता का पूर्ण अभाव रहा। उनका लक्ष्य केवल उसी राज्य या राजा तक ही सीमित रहता था, जिनके वे आश्रित होते थे। उदाहरण के लिए, महाकवि चंद-बरदाई ने पृथ्वीराज चौहान का यशोगान किया है और भट्ट केदार तथा मधुकर कवि ने कन्नौज के राजा जयचंद का, हालांकि भारतीय जनता में इस नरेश को 'देशद्रोही' के रूप में जाना जाता है।

जन-जीवन से संपर्क का अभाव : रासो ग्रंथों के रचयिता राजाश्रय में रहते थे। चंदबरदाई, दलपति विजय, भट्ट केदार, नरपति नाल्ह, जगनिक, विद्यापति आदि प्रमुख कवि राजाओं के आश्रित थे। इनका जन-जीवन से संपर्क कटा हुआ था। सामंती जीवन के

वैभव-विलास का चित्रण करना, उनकी समस्याओं एवं उनके द्वारा किये गये युद्धों आदि का चित्रण करना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। इसलिए इस काल के कवि जनता के करीब नहीं थे। इस काल के काव्य में जन-जीवन की समस्याएं नहीं चित्रित हो पायी हैं। जैन-बौद्धकवि यद्यपि जनता के बीच रहते थे फिर भी उनका संबंध उनकी समस्याओं से न था। चारण कवियों (रासोकारों) के आराध्य राजा लोग थे और जैन-बौद्ध कवियों की आराध्या थी अपनी-अपनी भक्ति-पद्धति। जनता से अगर उनका कोई संबंध था तो सिर्फ इतना कि उनकी रचनाओं को जनता में गाया-सुना जाता था।

ऐतिहासिक असंगतियां : वीरगाथा-काल की अधिकतर रचनाएं तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित हैं, किंतु कवियों ने उनमें अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुकूल स्थान-स्थान पर परिवर्तन कर दिया है, जिससे ऐतिहासिक सत्य को क्षति पहुंची है। वस्तुतः उनकी दृष्टि केवल घटना-विशेष का चमत्कारपूर्ण वर्णन करने में ही केंद्रित रही है और उनका दृष्टिकोण इतना संकीर्ण है कि उन्होंने इतिहास के सत्य को अक्सर झुठलाने की कोशिश की है।

अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन : इस काल की रचनाओं में कवियों ने हर बात बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कही है जिससे उनके वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हो गये हैं। चंदबरदाई ने पृथ्वीराज के जन्म का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए लिखा है, "जिस दिन पृथ्वीराज का जन्म हुआ उस दिन कन्नौज पर बिजली गिर गयी, दिल्ली दहल गयी, शेषनाग भी कुलमुला उठा ..." इत्यादि। साधारण सामंतों के साधारण कामों को इस तरह की अलौकिक रंगत देना इस युग के सभी कवियों की सामान्य विशेषता है। प्रशंसा की धुन में कवियों ने आश्रयदाता राजाओं की अनेक कल्पित शादियों एवं कल्पित लड़ाइयों का वर्णन किया है।

'रासो' ग्रंथों की प्रचुरता : इस युग में रची गयी नयी रचनाओं में अधिकांश के साथ—'रासो' शब्द जुड़ा है। इसी कारण इन ग्रंथों को 'रासो-काव्य' कहा जाता है। जैसे —पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, खुमान रासो, परमाल रासो आदि। इस काल के कवि रासो या रास का प्रयोग चरित-काव्य एवं कथा-काव्य के लिए करते थे। इसका प्रयोग गेयरूपक के अर्थ में भी किया जाता है। इस काल के प्रायः सभी रासो ग्रंथ गेय रूप में प्रचलित रहे होंगे। आल्हा का गेय रूप आज भी विद्यमान है।

भाषा : इस काल में प्रायः चार भाषाओं की रचनाएं प्राप्त होती हैं—अपभ्रंश, डिंगल, खड़ी बोली तथा मैथिली।

अपभ्रंश : इस भाषा का सबसे प्राचीन रूप सिद्धों, तांत्रिकों तथा योगमार्गी बौद्धों की रचनाओं में मिलता है। कुछ जैन आचार्यों—स्वयंभू, पुष्पदंत, मेरुतुंग, सोमप्रभ सुरि आदि ने भी इस भाषा में कुछ ग्रंथ लिखे हैं, जो उच्चकोटि के हैं। नाथपंथियों ने भी अपने मत के प्रचार के लिए राजपूताना तथा पंजाब की प्रचलित भाषा में ग्रंथ लिखे जिनमें अपभ्रंश, राजस्थानी तथा खड़ी बोली का मिश्रण प्राप्त होता है। विद्यापति ने भी इस भाषा में दो ग्रंथ रचे। इन कवियों ने काव्य-परंपरानुसार साहित्यिक प्राकृत के प्राचीन शब्दों को लेने के साथ ही विभक्तियों, कारक-चिह्नों तथा क्रियाओं के रूप भी सौ वर्ष पुराने रखे हैं। सिद्धों के ग्रंथों में देशभाषा-मिश्रित अपभ्रंश का रूप प्राप्त होता है। उसमें कुछ पूर्वी प्रयोग

भी हैं। भाषा की दृष्टि स जैन-साहित्य पर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है।

डिंगल : इस युग के साहित्य की दूसरी महत्त्वपूर्ण भाषा राजस्थानी अथवा डिंगल है। प्रायः सभी 'रासो' इसी भाषा में लिखे गये हैं। भाषा की दृष्टि से डिंगल साहित्य प्रायः अव्यवस्थित है, क्योंकि उसका शुद्ध रूप प्राप्त नहीं होता। उसमें पिंगल का मिश्रण है। अपभ्रंश से प्रभावित होने के कारण उसमें संयुक्ताक्षरों तथा अनुस्वारों की भरमार है। प्रायः दस प्रतिशत अरबी-फारसी से प्रयुक्त शब्दों पर डिंगल की विभक्तियों का प्रभाव है। संयुक्ताक्षरों तथा अनुस्वारों की बहुलता भाषा की कृत्रिमता प्रकट करती है।

खड़ी बोली : इस भाषा का रूप अमीर खुसरो की रचनाओं में प्राप्त होता है। उनकी पहेलियों तथा मुकरियों में तत्कालीन भाषा का रूप दिखायी देता है। यह दिल्ली तथा मेरठ की भाषा थी। इसमें हमें खड़ी बोली के पूर्व रूप के दर्शन होते हैं। इसमें अरबी तथा फारसी के शब्दों का भी प्रयोग है परंतु वाक्य-रचना तथा क्रियाएं हिंदी की हैं।

मैथिली : मैथिली बिहार के मैथिल जनपद की बोली होने पर भी हिंदी की विभाषा मानी जाती है। इसलिए इस भाषा में लिखी गयी विद्यापति की पदावली हिंदी-साहित्य की अमूल्य निधि मानी गयी है। मैथिली तथा अवधी पड़ोसी बोलियां हैं। इस-लिए उनके प्रारंभिक स्वरूप में कोई भेद नहीं दिखायी देता।

काव्य-रूप : वीरगाथा-काल की रचनाओं में काव्य के दो रूप मिलते हैं—प्रबंध और मुक्तक। पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, जयमयंक-जस-चंद्रिका, खुमान रासो, संदेश रासक आदि प्रबंध काव्य है। खुसरो की पहेलियां, विद्यापति की पदावली और प्राकृत पैंगलम् में संकलित रचनाएं मुक्तक काव्य के अंतर्गत आती हैं। नरपति नाल्ह का बीसल-देव रासो मुक्तक और वीर गीतिकाव्य है, परंतु इसमें कुछ कथासूत्र भी मिलते हैं।

छंद : छंदों के क्षेत्र में जिस प्रकार 'श्लोक' संस्कृत का और 'गाथा' प्राकृत का प्रतीक था, उसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का प्रतीक है। तुक का मिलान अपभ्रंश की विशेषता है। मुक्तक काव्य में इसका विशेष प्रयोग हुआ तथा इसमें प्रथम बार तुक मिलाने का प्रयत्न किया गया। अपभ्रंश के काव्य अनेक संधियों (सर्गों) में विभक्त हैं। प्रत्येक संधि में अनेक कड़वक होते हैं। पद्धटिका, अरिल्ल आदि कुछ छंद लिखकर अंत में 'धत्ता' अथवा अन्य किसी ऐसे ही छंद द्वारा इनका विच्छेद किया जाता है। चौपाई तथा दोहों द्वारा कड़वकों की रचना का श्रेय सिद्धों को था। आरंभ में कथाकाव्यों का छंद चौपाई था। अनेक दोहों के उपरांत चौपाई द्वारा कथा की योजना 'ढोला मारूरा दूहा' में मिलती है। धीरे-धीरे अपभ्रंश में अनेक बड़े-बड़े छंदों का आरंभ हुआ। चंदबरदाई छप्पय छंद के विशेषज्ञ हैं, यद्यपि उन्होंने दूहा, पद्धरी, तोमर, नाराच आदि का भी सुंदर प्रयोग किया है। कहीं-कहीं 'शार्दूल विक्रीड़ित' और 'गाहा' (गाथा) छंदों का प्रयोग भी मिलता है।

अलंकार : वीरगाथा-काल के काव्यों में अनेक अलंकारों का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ हुआ है। प्रायः सभी प्रसिद्ध शब्दालंकार, जैसे—अनुप्रास, यमक, श्लेष और वीप्सा आदि तथा अर्थालंकार, जैसे—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, संदेह, भ्रांतिमान और अतिशयोक्ति आदि इस युग की रचनाओं में मिलते हैं।

[डॉ० रामप्रकाश के सौजन्य से]